संक्षोभ-हीन मन आतम का स्वभाव,
संमोह-मान-मय-मानस है विभाव ।
सारे अत: मलिन मानस को धुलाओ,
आदर्श सादृश विशुद्ध उसे सजाओ ॥३६॥

मिथ्यात्व-मान ममतादिक कारणों में,
होता सुलीन मन है, विषयादिकों में ।
सिद्धान्त के मनन से मन हाथ आता,
विज्ञान के उदय से पर में न जाता ॥३७॥

उद्विग्न क्षोभमय जो नित हो रहा है,
मानापमान उसके मन में बसा है ।
सद्धर्म-लीन जब जो मुनि वीतराग,
क्यों द्रोह मोह उनमें फिर रोष राग ? ॥३८॥

अज्ञान का प्रबल कारण पा जिनेश, !
हो जाय तो यदि यदा रति राग द्वेष ।
भावे उसी समय स्वीय विशुद्ध तत्त्व,
तो राग-द्वेष मिटते, मिटता ममत्व ॥३९॥

सम्बन्ध स्वीय तन से यदि प्रेम का हो,
योगी सुदूर उससे सहसा अहा ! हो ।
विज्ञान रूप तन में निज को लगावें,
तो देह-प्रेम नशता, तब मोक्ष पावें ॥४०॥

अज्ञान-जन्य-दुख नाश स्वबोध से हो,
पीड़ा अतीव वह क्यों न अनादि से हो ।
विज्ञान के विषय में यदि आलसी है,
पाता न मोक्ष, उसका तप ! ना सही है ॥४१॥

लक्ष्मी मिले, मिलन हो, मम हो विवाह
मूढ़ात्म को विषय की दिनरैन चाह ।
ज्ञानी, वशी, विमल मानस, आत्मवादी,
मूढ़ात्म सादृश नहीं, पर अप्रमादी ॥४२॥

जो आत्म-भक्ति च्युत होकर भोगलीन,
त्यों कर्म जाल फँसता रसलीन मीन ।
जो स्नान आत्म सरमें करता तपस्वी,
निर्मुक्त कर्म-रज से वह हो यशस्वी ॥४३॥

स्त्री नपुंसक औ नर लिंग को ही,
'आत्मा' सदैव इस भाँति कहे प्रमोही ।
पै आत्म अलग, अवर्ण, अखण्ड पिण्ड,
ऐसा कहे सुबुध, ना जिनमें घमण्ड ॥४४॥

शुद्धात्म को सुबुध यद्यपि जानता है,
ध्याता उसे अलस को तज देखता है ।
मिथ्यात्व का उदय पै यदि हाय ! होता,
सद्ध्यान शीघ्र नशता, वह भ्रष्ट होता ॥४५॥

काया अचेतन-निकेतन दृश्यमान,
दुर्गन्ध-धाम पर है क्षण नश्यमान ।
तो रोष तोष किसमें मम हो महात्मा, !
मध्यस्थ हूँ इसलिए जब चेतनात्मा ॥४६॥

मूढ़ात्म केवल पटादिक छोड़ता है,
ज्ञानी कषाय घटको झट तोड़ता है ।
सर्वज्ञ तो न तजता, गहता किसी को,
तो लाख बार मम वन्दन हो उसी को ॥४७॥

शुद्धात्म के शयन पे मन को सुलाओ,
औ कायसे वचन से निज को छुड़ाओ ।
रे ! सर्व बाह्य व्यवहार तथा भुलाओ,
अध्यात्म रूप सर में निज को डुबाओ ॥४८॥

जो आत्म-बोध परि-शून्य शरीरधारी,
भाता उसे स्वतन ही कल सौख्यकारी ।
जो स्वीय बोध पय को नित पी रहा हो,
संसार क्षार जल में रुचि क्यों उसे हो ? ॥४९॥

शुद्धात्म ध्यान तज अन्तर आत्म सारे,
ना अन्य भाव मन में चिरकाल धारें ।
या अन्य भाव यदि है करते प्रवीण,
वाक्काय से कुछ करें मनसे कभी न ॥५०॥

जो भी मुझे सकल-इन्द्रिय गम्य है रे,
निर्भ्रांत भिन्न मुझसे पर है, न मेरे ।
देखूँ समोद जब मैं निज में, तभी यों,
है ज्योति दीख पड़ती, मम है 'वही जो' ॥५१॥

प्रारम्भ में कुछ दुखी निज ध्यान से हो,
प्रायः सुखानुभव बाहर में उसे हो ।
अभ्यस्त तापस कहै निजमें हि तोष,
संसार सागर असार विपत्ति कोष ॥५२॥

निर्ग्रन्थ होकर करो निज आत्म-गीत,
पूछो तथा निजकथा गुरु से विनीत ।
चाहो उसे सतत् हो उसमें विलीन,
अज्ञान नाश जिससे, तुम हो प्रवीण ॥५३॥

वाक्काय में निरखता निजको हि अज्ञ,
तो देह का वचन का वह है न विज्ञ ।
ज्ञानी कहे मम नहीं यह देह भार,
होता अतः वह सुशीघ्र भवाब्धि पार ॥५४॥

संभोग में सुख नहीं कहते मुमुक्षु,
मोक्षार्थ योग धरते सब संत भिक्षु ।
अज्ञान भाव वश हो वह सर्व काल,
संभोग में निरत हो बहिरात्म बाल ॥५५॥

अज्ञान रूप तम में चिरमूढ़ सोये,
भोगे कुयोनिगत-दुःख अतीव रोये ।
ऐसी दशा च उनकी दयनीय क्यों है ?
वे आत्म बोध तजके परलीन क्यों है ? ॥५६॥

योगी सदा तप तपे निजमें रहेंगे,
सद्ध्यान ध्या परिषहादिक भी सहेंगे ।
'मेरा शरीर' इस भाँति नहीं कहेंगे,
कोई प्रबन्ध परसंग नहीं रखेंगे ॥५७॥

मोही नहीं समझते निज शक्ति को भी,
औ जानते न मम उत्तम बोध से भी ।
तो क्यों अहो ! अबुध को उपदेश मेरा,
होगा नहीं उचित सूर्य नहीं सवेरा ॥५८॥

स्वबोध शिष्य तन को जब मैं सिखाऊँ,
स्वामी ! निजानुभव में तब आ न पाऊँ ।
जो शब्दगम्य, निजगम्य, अगम्य मैं में,
कैसे ? किसे ? कब कहूँ ? निजवस्तु मैं में ॥५९॥

सन्तुष्ट बाह्य धन में कुपथाभिरूढ़,
उत्कृष्ट स्वीय-धन-विस्मृति से ''प्रमूढ़'' ।
चारित्र धार तपते, तजते कुभोग,
पाते प्रमोद निज में ''मुनि'' सन्त लोग ॥६०॥

ना ! जानता वह कभी सुख दुख को है,
स्वामी ! अचेतन-निकेतन देह जो है ।
मिथ्यात्वभाव वश हो तनकी सुसेव,
मोही नितान्त करता फिर भी सदैव ॥६१॥

देहादि में निरत हैं जबलौं हि जीव,
निर्भ्रांत दु:ख सहता तबलौं अतीव ।
शुद्धात्म ध्यान तुझको जब हो खुशी है,
तेरे तदा निकट ही शिव-कामिनी है ॥६२॥

ज्यों वस्त्र को पहन मार्दव स्पर्श शस्य,
हैं मानते न निजको 'बलवान् मनुष्य' ।
ना मानते सुबुध त्यों निज देह देख,
सन्तुष्ट पुष्ट निज को बलवान् सुरेख ॥६३॥

होता यदा वसन है यदि जीर्ण-शीर्ण
कोई तदा समझते निज को न क्षीण ।
काया जरा समय में यदि कांति हीन,
ज्ञानी तदा समझते निज को न क्षीण ॥६४॥

है मूल्यवान् पट भी यदि नष्ट होता,
संसार में अबुध भी न कदापि रोता ।
देहावसान यदि हो मम तो खुशी है,
मेरा नहीं मरण यों कहते वशी हैं ॥६५॥

हैं पंक से मलिन यद्यपि शुक्ल वस्त्र,
पै मानते मनुज तो निज को पवित्र ।
तो देह में रुधिर पीव पड़े सड़े भी ।
योगी स्वलीन फिर भी, तपते खड़े ही ॥६६॥

जो आत्म-चिन्तन सदा करता नितान्त,
निस्पन्द ही जग उसे दिखता प्रशान्त ।
होता वही 'जिन' अत: गतक्लांत विज्ञ,
मोही सदा दुख सहे बहिरात्म अज्ञ ॥६७॥

जो राग-रोष करता गहता शरीर,
तो बार बार मरता सह, दु:ख पीर ।
प्रत्येक काल जिस कारण कर्म ढोता,
तो जानता न निज को भव बीच रोता ॥६८॥

प्रत्येक काल जड़ पुद्गल वर्गणाएं,
जाती, प्रवेश करती तन में परायें ।
तो पूर्वसा इसलिए तन दीखता है,
मोही निजीय कहता उसको वृथा है ॥६९॥

काला न मैं ललित, लाल नहीं अनूप,
रागी न पुष्ट अति हृष्ट नहीं कुरूप ।
पै नित्य, सत्य अरु मैं वर बोध-धाम,
मेरा अत: विनय से मुझको प्रणाम ॥७०॥

[illegible]

संसर्ग पा अनल का नवनीत जैसा,
नोकर्म पा पिघलता बुध ठीक वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकांत में विपिन में निज में जरूर ॥७२॥

मैं जा रहूँ नगर में, वन में कभी न,
ऐसा विचार करता, बहिरात्म दीन ।
ज्ञानी न ईदृश विचार स्वचित्त लाता,
निश्चिंत हो सतत किन्तु निजात्म ध्याता ॥७३॥

निस्सार पार्थिव तनादिक काऽनुराग,
है बीज अन्य तन का द्रुत भव्य ! जाग ।
तो बीज मोक्ष द्रुम का निज भावना है,
भावो उसे, यदि तुम्हें शिव कामना है ॥७४॥

आत्मा हि कारण सदा भव का रहा है,
जाता वही नियम से शिव को तथा है ।
है आत्म का गुरु अतः स्वयमेव आत्मा,
कोई न अन्य, इस भाँति कहे महात्मा ॥७५॥

होता यदा जड़ तनादिक का वियोग,
भारी विलाप करते बहिरात्म लोग ।
मैं तो मरा, मरण !! हाय ! महा समीप,
ऐसे कहे, न जिनके उर-बोध-दीप ॥७६॥

प्राचीन वस्त्र तज, वस्त्र नवीन लेते,
स्वामी ! यथा मनुज मात्र न खिन्न होते ।
योगी तथा न डरता यदि काय जाता,
मेरा नहीं मरण है इस भाँति गाता ॥७७॥

जो भी यहाँ विषय भोग करें करावें,
शुद्धात्म ध्यान च्युत होकर कष्ट पावें ।
जो मौन सर्व व्यवहारिक कार्य में हैं,
वे ही स्वदर्शन करें, निज में रमे हैं ॥७८॥

तो देख बाह्य धन वैभव और अंग,
ओ ! आत्म को निरख के निज अन्तरंग ।
निस्सार जान जड़ को पर औ अमेध्य,
छोड़ राग बुध शुभाशु बने अवद्य ॥७९॥

तो जोग धार, वन जीवन ही बिताता,
प्रारम्भ में जग उसे 'मर' सा दिखाता ।
पश्चात यही निरख दृढ़ समा दिखाता,
अभ्यास से मुनि यहाँ निज वित्त पाता ॥८०॥

तत्वोपदेश परको दिन रैन देता
सद्बोध और सुनता जिन शास्त्र वेत्ता ।
पै देह भिन्न मम जीव सदैव भिन्न,
ऐसा न बोध यदि हो शिव मात्र स्वप्न ॥८१॥

शुद्धात्म ध्यान सर में निज को डुबाओ,
दुर्गन्ध देह सर को सहसा भुलाओ ।
तो देह धारण पुनः जिससे न होवे,
पावे विशुद्धि पद औ वसु कर्म खोवे ॥८२॥

निर्भ्रांत अत्र व्रत से वह पुण्य होता,
अत्यन्त क्लांत ! व्रतहीन कुपाप ढोता ।
तानों विलीन जब हो तब मोक्ष भिक्षु,
छोड़े व्रतेतर समा व्रत को मुमुक्षु ॥८३॥

संसार कारण व्रतेतर आद्य छोड़,
वैराग्य पा विषय से निज को सुमोड़ ।
छोड़े महाव्रत तदा मुनि मौनधारी,
होती स्वहस्तगत है जब मोक्ष नारी ॥८४॥

संकल्प, जल्प व विचित्र विकल्प वृन्द,
है दुःख मूल, जिससे वसु कर्म बन्ध ।
होता यदा जड़तया उसका विनाश,
आत्मा तदा स्वपद-दिव्य गहे प्रकाश ॥८५॥

जो अव्रती वह सुशीघ्र बने व्रती ही,
सज्ज्ञान में परम लीन रहे व्रती भी ।
संपन्न ध्यान क्रमशः स्वयमेय होगा,
विज्ञान पूर्ण मुनि यों भव-मुक्त होगा ॥८६॥

चारित्र बाहर तनाश्रित दीखता है,
तो जीव का 'भव' यही तन तो रहा है ।
जो मात्र बाह्य तप में रहता सुलीन,
होता न मुक्त निज-निर्मल-भाव-हीन ॥८७॥

ये शैव वैष्णव तथा बहु जातियाँ हैं,
सारी यहाँ जड़ तनाश्रित पंक्तियाँ हैं ।
जो मूढ़ जाति मद है रखता सदैव,
कैसा उसे शिव मिले अयि ! वीर देव ! ॥८८॥

मैं हूँ दिगंबर अतः शिवमार्गगामी,
कोई नहीं मम समा बुध अग्रगामी ।
इत्थं प्रमत्त मुनि हो मद धारता है,
पाता न मोक्ष पद को वह भूलता है ॥८९॥

जानी सुयोग धरते तपते शिवार्थ,
तो दूर हैं विषय से निज साधनार्थ ।
तो भोग लीन रहता दिन-रैन मोही,
है त्याग का वह सदा अनिवार्य द्रोही ॥९०॥

निर्भ्रांत देह जड़ ही नित जानता है,
मोहाभिभूत नर ईदृश मानता है ।
पंगु प्रदर्शित यथा पथ-रूढ़ अन्ध,
ना दीखता पथिक को वह हाय ! अन्ध ॥९१॥

जो अन्ध-खंज युग अन्तर जानते हैं ।
क्यों अन्ध को नयनवान न मानते हैं ।
विज्ञान पूर्ण निज को मुनि मानते जो,
आत्मानुरूप तन को नहि जानते त्यों ॥९२॥

उन्मत्त सुप्त जनकी वह जो क्रिया हो,
मोही उसे भ्रम कहे यह अज्ञता ओ !
पै रोष तोष मय तामस-भाव को ही,
है मानते 'भ्रम' अहो ! गुरु तो अलोभी ॥९३॥

शिवार्थ व्रततप यद्यपि है किया या,
सज्ज्ञान हीन गति हो शिव ना दिला हो ।
शुद्धात्म का अनुभवी गति नीच लेता,
तो भी अपार सुख पा, भव पार होता ॥९४॥

स्वामी ! जहाँ मनुज बुद्धि लगी रही है,
होती नितांत उस की रुचि भी वहीं है ।
होती यदा रुचि जहाँ अयि भव्य ! मित्र,
होता सुलीन मन है वह नित्य तत्र ॥९५॥

स्वामी ! जहाँ मनुज बुद्धि लगी नहीं हैं,
होती वहाँ रुचि कभी उसकी नहीं है ।
होती तथा रुचि नहीं सहसा जहाँ है,
होता सुलीन मन ना वह भी वहाँ है ॥९६॥

छद्मस्थ भव्य जिसको नहिं भोग भाता,
सिद्धात्म भक्ति करके वह मुक्ति जाता ।
बत्ती यथा अलग होकर दीप से भी,
होती अहो ! द्युतिमयी उस संग से ही ॥९७॥

जो आत्म ध्यान करता दिनरैन त्यागी,
होता वही परम आतम वीतरागी ।
संघर्ष से विपिन में स्वयमेव वृक्ष,
होता यथा अनल है अयि भव्य दक्ष ! ॥९८॥

देखो ! विशुद्ध पद को निज में सही यों,
ध्याओ उसे वचन गोचर नहीं जो ।
पाओ अतः परम पावन मोक्ष-धाम,
आना नहीं इधर लौट वहीं विराम ॥९९॥

रे आत्म तत्व यदि भौतिक ही यहाँ हो,
तो मोक्ष, यत्न बिन ही सहसा अहा ! हो ।
ऐसा न हो, तब सदा तपसे सुमुक्ति,
योगी दुखी न, जब जागरती स्वशक्ति ॥१००॥

होता यथा मरण यद्यपि स्वप्न में है,
तो भी न नाश निज का परमार्थ से है ।
स्वामी ! तथा मरण हो जब आयु अन्त,
पै देह ही बदलता, नित मैं अनन्त ॥१०१॥

तो कायक्लेश बिन आर्जित आत्म ज्ञान,
शीतादि कष्ट जब हो द्रुत नश्यमान ।
कायानुसार सब ही नित काय क्लेश,
योगी सहे सतत् वे धर नग्न भेष ॥१०२॥

विद्वेष राग करता यह ज्योंहि जीव,
त्योंही चले पवन भी तन में अतीव ।
औ वायु से सकल अङ्ग उपांग सारे,
होते स्वकार्य रत नौकर से बिचारे ॥१०३॥

निस्सार दैहिक विवर्त्त समूह को भी,
'आत्मा' कहे अबुध लोक सदा प्रमोही ।
स्वामी ! वशी सुबुध तो पर को विसार,
होते सुशीघ्र दुख पूर्ण-भवाब्धिपार ॥१०४॥

जोभी समाधि स्तुति को पढ़ आत्म, वेद
'मैं औ शरीर' इनमें कुछ भी न भेद ।
ऐसा विचार तजते बन अन्तरात्मा,
पाते निजीय सुख को, बनते महात्मा ॥१०५॥

आचार्य पूज्यपाद स्तुति

थे पूज्यपाद, वृषपाल, वशी, वरिष्ठ,
थे आपके न रिपु, मित्र, अनिष्ट, इष्ट ।
मैं पूज्यपाद यति को प्रनमूं त्रिसंध्या,
'विद्यादिसागर' बनूं, तज दूं अविद्या ॥

- इति शुभं भूयात् -

योगसार

मूल : योगसार (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

योगसार

(वसंत तिलका छंद)

ज्ञानी, वशी परम पावन ध्यान ध्याके,
जो अष्ट कर्म-मय-इंधन को जला के ।
सारे हुए परम आतम विश्वसार,
बंदू उन्हें नमन मैं कर बार, बार ॥१॥

जो घाति कर्म रिपुको क्षण में भगाये,
अर्हन्त होकर अनन्त चतुष्क पाये ।
तो लाख बार नम श्री जिनके पदों में,
पश्चात् कहूं सरस श्राव्य सुकाव्य को मैं ॥२॥

हे भद्र ! भव्य भव से भयभीत भारी,
जो चाहते परम सुन्दर मुक्तिनारी ।
संबोधनार्थ उनको समचित्त साथ,
पद्यावली रचित है मुझसे सुखार्थ ॥३॥

जो काल है वह अनादि, अनादि जीव,
संसार सागर अनन्त व्यथा अतीव ।
मिथ्यात्व से भ्रमित हो सुख को न पाया,
संसारिजीव दुख जीवन ही बिताया ॥४॥

संसार के भ्रमण से यदि भीत है तू,
शीघ्रातिशीघ्र तज तो, पर भाव को तू ।
ध्या, स्वच्छ, अच्छ व अतुच्छ निजात्म को तू,
पाले अनन्त जिससे शिव सौख्य को तू, ॥५॥

आत्मा यहां त्रिविध है बहिरंतरात्मा,
आदेय ध्येय 'परमातम' है महात्मा ।
तू अंतरात्म बन के परमात्म ध्या रे ।
दे ! दे ! सुशीघ्र बहिरातम को विदा रे ! ॥६॥

मिथ्यात्वसे भ्रमित जो जिन धर्म द्रोही,
है मानता परम आतमको न मोही ।
होता वही नियम से बहिरात्म प्राणी,
गाती गणेश इस भांति सुवीर वाणी ॥७॥

जो देखता परम आतमको यहां है,
औ रोष तोष परको तजता अहा है ।
होता सुपंडित वही अयि ! वीर नाथ !
संसार त्याग, रमता शिव नारि साथ ॥८॥

अत्यंत शांत, गतक्लांत नितांत शुद्ध,
जो है महेश, शिव, विष्णु, जिनेश, बुद्ध ।
ज्ञानी उन्हें परम आतम हैं बताते,
सिद्धांत के मननमें दिन जो बिताते ॥९॥

देहादि जो सकलभिन्न सुसर्वथा है,
'आत्मा' कहे मनुज तो उनको, व्यथा है !!
वे ही सभी अबुध हैं बहिरात्म जीव,
संसार बीच दुख को सहते अतीव ॥१०॥

जो अत्र मित्र निज पुत्र, कलत्र सारे,
ये तो कभी न मम हो सकते बिचारे ।
यों जान, ओ अयिसुजान ! तथा च मान,
तू आत्म को सतत आतम रूप जान ॥११॥

है ! भव्य जीव यदि तू निजको लखेगा,
तो शीघ्र मुक्ति-ललना-पति तू बनेगा ।
औ अन्यको हि यदि 'आतम' तू कहेगा,
तो हा ! अगाध भवसागर में गिरेगा ॥१२॥

इच्छा विहीन बन तू यदि योग धार,
है आत्म को निरखता, जगको विसार ।
तो आशु मुक्ति रमणी तुझको वरेगी,
क्या ! क्या कहूं वह कभी न तुझे तजेगी ॥१३॥

है जीव कर्म गहता परिणाम से ही,
पाता निजीय पदको परिणाम से ही ।
तो भव्य जीव किससे शिव सांख्य ढोता,
तू जान ठीक ! किससे वह बंध होता ॥१४॥

धिक्कार ! हाय ! यदि आतम को विसार,
तू पुण्य का चयन हो करता अपार ।
तो हंत ! सातिशय सौख्य नहीं मिलेगा,
संक्लेश भाव करता, दुख ही सहेगा ॥१५॥

आदर्श सादृश निजातम दर्श, त्याग,
कोई न अन्य शिवकारण, भव्य ! जाग ।
ऐसा सदा समझ निश्चयसे सुयोगी !
तो शीघ्र ही सुख मिले भव-मुक्ति होगी ॥१६॥

जो मार्गणा व गुणथान विकल्पसारे
है शास्त्र से कथित वे व्यवहार से रे !
पे आत्मको समझ निश्चयसे विशुद्ध,
होगा सुखी सहज से, द्रुत सिद्ध, बुद्ध ॥१७॥

गार्हस्थ्यकार्ये घर में करत हुए भी
जो जानते सतत भिन्न शरीर को भी ।
ध्याते तथा-तिन वीर जिनेंद्र को है
पाते सुशीघ्र भव से शिव सौख्य को है ॥१९॥

चिंतो विशुद्ध मन में भविवर्ग स्वामी,
है ! भव्य आप जिन को जिन सिद्ध जानी ।
सार अनन्त गुणधाम महा ! बनोगे,
तो एक साथ जिनसे सबको तरोगे ॥२०॥

शुद्धात्म में व जिन में कुछ भी न भेद,
ऐसा सदा समझ तू द्रुत आतम वेद ।
संसार पार करना यदि चाहता है,
भा भावना सहज की यह साधुता है ॥२१॥

जो हैं जिनेन्द्र सुन ! आतम है वही रे !
'सिद्धांत सार' यह जान सदा सही रे !
यों ठीक जानकर तू अयि भव्य योगी !
सद्यः अतः कुटिलता तज मोह को भी ॥२२॥

जो है यहां परमआतम है वही में,
वे ही विभो ! परम आतम जो मुझी में ।
ऐसा अरे ! समझ जान सदैव योगी !
ला चित्त में क्षण न अन्य विकल्प को भी ॥२३॥

शुद्धप्रदेश युत जो त्रयलोकपूर्ण,
आत्मा उसे समझ जान उसे न चूर्ण ।
निर्वाण प्राप्त करले जिससे मुमुक्षु !
आत्मीय सौख्य गहले अयि ! भव्य भिक्षु ! ॥२४॥

आत्मा त्रिलोक सम निश्चय से यहां है,
देह प्रमाण, व्यवहारतया तथा है ।
जो जानता सतत ईदृश आत्म को है,
पाता सुशीघ्र भव-वारिधि तीर को है ॥२४॥

चौरासि योनिगत दुःसह दुःख पाया,
औ दीर्घ काल भव में भ्रमता बिताया ।
सम्यक्त्व दिव्य धन को इसने न पाया,
देही, जिसे धरम ना अबलों सुहाया ॥२५॥

जो है सचेतन-निकेतन और शुद्ध,
वे दिव्य ज्ञान मय श्री जिन नाथ बुद्ध ।
आत्मा उन्हें समझ, जान अरे सदा तू,
हे ! भव्य ! बोल ! शिव को यदि चाहता तू ॥२६॥

होगा तुझे न सुख ओ तबलौं न मुक्ति
सानन्द तू न करता जबलौं स्वभक्ति
जो दीखता अब तुझे वर सौख्य सार
तू धार शीघ्र उसको करके विचार ॥२७॥

जो हैं जिनेश, शिव है त्रय लोक ध्येय,
आत्मा वही व उसकी महिमा अमेय ।
ऐसा यहां कथन निश्चय से किया है,
विश्वास धार इसमें, भ्रमतो वृथा है ॥२८॥

चारित्र मूढ़ जन यद्यपि धारते हैं,
प्रायः सभी व्रत तपादिक साधते हैं ।
शुद्धात्म-ज्ञान जबलों गहते नहीं हैं,
ना मोक्ष मार्ग तबलों, तप व्यर्थ ही है ॥२९॥

जो भी दिगम्बर वशी बन योग धार,
शुद्धात्मको यदि लखे जग को बिसार ।
संसार त्याग सब वे द्रुत मोक्ष पाते,
ऐसे सदैव सब सन्मति शास्त्र गाते ॥३०॥

चारित्र, शील व्रत औ तप भी करेगा,
ये सर्व ही न तबलों शिव सौख्य देगा ।
शुद्धात्म ध्यान जबलों मुनि को न होता,
जो आप साध्य बलको सुख पूर्ण देता ॥३१॥

है पुण्य से अमर का गहना विलास,
औ पाप से नरक में करना निवास ।
ये पुण्य पाप तज जीव निजात्म ध्याता
तो शीघ्र ही परम पावन मोक्ष पाता ॥३२॥

चारित्र शील व्रत संयम जो यहां है,
वे सर्व ही कथित रे ? व्यवहार से है ।
है ! जीव, एक वह कारण मोक्ष का है,
विज्ञान, जो परम सार त्रिलोक का है ॥३३॥

जो आत्म भाव बल से निज को जनाते,
स्वामी ! कभी न मन में परभाव लाते ।
वे सर्व मोक्ष पुर को सहसा पधारे,
धारे अनंत सुख को, सबको निहारे ॥३४॥

ये द्रव्य हैं छह यहां अरु नौ पदार्थ,
हैं सात तत्व जिनदर्शित ये यथार्थ ।
व्याख्यान तो यह हुआ व्यवहार मात्र,
तू जानले अब उन्हें बन साम्य पात्र ॥३५॥

आत्मा त्रिलोक सम निश्चय से यहां है,
देह प्रमाण, व्यवहारतया तथा है ।
जो जानता सतत ईदृश आत्म को है,
पाता सुशीघ्र भव-वारिधि तीर को है ॥२४॥

चौरासि योनिगत दुःसह दुःख पाया,
औ दीर्घ काल भव में भ्रमता बिताया ।
सम्यक्त्व दिव्य धन को इसने न पाया,
देही, जिसे धरम ना अबलों सुहाया ॥२५॥

जो है सचेतन-निकेतन और शुद्ध,
वे दिव्य ज्ञान मय श्री जिन नाथ बुद्ध ।
आत्मा उन्हें समझ, जान अरे सदा तू,
हे ! भव्य ! बोल ! शिव को यदि चाहता तू ॥२६॥

होगा तुझे न सुख ओ तबलों न मुक्ति
सानन्द तू न करता जबलौं स्वभक्ति
जो दीखता अब तुझे वर सौख्य सार
तू धार शीघ्र उसको करके विचार ॥२७॥

जो हैं जिनेश, शिव है त्रय लोक ध्येय,
आत्मा वही व उसकी महिमा अमेय ।
ऐसा यहां कथन निश्चय से किया है,
विश्वास धार इसमें, भ्रमतो वृथा है ॥२८॥

चारित्र मूढ़ जन यद्यपि धारते हैं,
प्रायः सभी व्रत तपादिक साधते हैं ।
शुद्धात्म-ज्ञान जबलों गहते नहीं हैं,
ना मोक्ष मार्ग तबलों, तप व्यर्थ ही है ॥२९॥

जो भी दिगम्बर वशी बन योग धार,
शुद्धात्मको यदि लखे जग को बिसार ।
संसार त्याग सब वे द्रुत मोक्ष पाते,
ऐसे सदैव सब सन्मति शास्त्र गाते ॥३०॥

चारित्र, शील व्रत औ तप भी करारी,
ये सर्व ही न तबलों शिव सौख्य कारी ।
शुद्धात्म ध्यान जबलों मुनि को न होता,
जो आश साध्य कुलको सुख पूर्ण देता ॥३१॥

हे पुण्य से अमर हो गहता विलास,
औ पाप से नरक में करता निवास ।
पर पुण्य पाप तज जीव निजात्म ध्याता
तो शीघ्र ही परम पावन मोक्ष पाता ॥३२॥

चारित्र शील व्रत संयम जो यहां है,
वे सर्व ही कथित रे ? व्यवहार से है ।
है ! जीव, एक वह कारण मोक्ष का है,
विज्ञान, जो परम सार विनोक का है ॥३३॥

जो आत्म भाव तज से बिन का बनाता
स्वामी ! कभी न मन में परमाद लाता ।
वे सर्व मोक्ष पुर का रचता पसार
धार अनन्त सुख का, सबका विचार ॥३४॥

ये द्रव्य हैं छह यहां जग में बताये
हैं सात तत्व जिनवीरने ये बताये ।
व्याख्यान तो यह हुआ व्यवहार का है
तू जानले अब उन्हें बन सार पा ले ॥३५॥

सारे अचेतन-निकेतन बोध रिक्त,
तो जीव चेतन सुधा सम सार युक्त ।
सानन्द जान जिसको मुनि भव्य वृंद,
संसार पार करते, बनते अबंध ॥३६॥

है जानता यदि सुनिर्मल आत्म को तू,
औ छोड़ता उस सभी व्यवहार को तू ।
तो शीघ्र ही वह मिले भवका किनारा,
ऐसे जिनेश कहते, यह 'योग सारा' ॥३७॥

जो भेद संनिहित जीव अजीव में है,
जो भी मनुष्य उसको यदि जानते हैं ।
है ज्ञात निश्चित उन्हें जग तत्व सर्व,
ऐसे मुनीश्वर कहें, जिनमें न गर्व ॥३८॥

आत्मा अहो ! परम केवल-बोध-धाम,
ऐसा सुजान ! नित जान तथैव मान ।
कल्याण-खान-शिवकी यदि कामना है,
है ! भव्य ! साधुजन की यह बोलना है ॥३९॥

तो कौन पूजन, समाधि करे करावे,
औ मित्रता हृदय में किस संग लावे ।
संघर्ष कौन किस संग करे महात्मा,
देखो जहां वह वहां दिखता निजात्मा ॥४०॥

स्वामी ! यहां सुगुरु के प्रसाद द्वारा,
जो आत्मको न लखता जबलौं सुचारा ।
हा ! हा ! कुतीर्थ करता, तबलौं अहा ! है,
तो धूर्तता, कुटिलता, करता वृथा है ॥४१॥

त्रैलोक्य संस्तुत जिनेश न तीर्थ में है,
वे सिद्ध, शुद्ध न जिनालय में बसे हैं ।
रे ? जान तू जिनप तो तन गेह में है,
ऐसा सदा श्रुतविशारद बोलते हैं ॥४२॥

है देव यद्यपि तनालय में यथार्थ,
जाते तथापि जन मंदिर सार्थनार्थ ।
वर्षा विचित्र भरना पट में यथापि
तथा शरीरज बनी पर जीव माया ॥४३॥

[illegible] मिल देव जिन मंदिर में सही है
पाषाण लेप लिपि काष्ठ में नहीं है ।
वे हैं अनादि तनमंदिर में पधारे
या जान, मान तज, हो जिनराज न बनाते ॥४४॥

कोई कहे जिनप तो मठ तीर्थ में है
कोई कहे गिरि जिनालय में बसा है ।
पै देव को बुध तनालय में बताते
ऐसे अभिज्ञ विरले भविवर्ग दिखाते ॥४५॥

तू है जरा मरण से पर जीव भाई
तो नित्य धर्म कर जो वर शाश्वताई ।
तू धर्म रूप रसका रस पूर लेना
जल्दी जरा, जीवन, मृत्यु[illegible] ना ॥४६॥

होता न धर्म वह पुस्तक पिच्छिका से,
ना प्राप्त हो पठन पाठन की क्रिया से ।
होता न धर्म मठ मंदिर वास से भी,
ना प्राप्त हो न-कचलुंचन कर्म से भी ॥४७॥

जो राग रोष, परको तज योग धार,
है आत्म में ठहरता, जग को विसार ।
होता वही धरम तो शिव सौख्य देता,
ऐसे कहे जिनप जो अघ कर्म जेता ॥४८॥

है आयु तो गल रही, गलता न चित्त,
आशा तथा न गलती दिन रैन मत्त ।
व्यामोह तो स्फुरित है हित आत्म का न,
मोही सदा दुख सहे निजको न जान ॥४९॥

तल्लीन ज्यों विषय को मन भोगने में,
त्यों हो सुलीन यदि आतम जानने में ।
तो क्या कहे ? यति जनो ? वह मोक्ष पाता,
योगी समूह इस भाँति सदैव गाता ॥५०॥

जैसा सछिद्र वह जर्जर श्वभ्र गेह
वैसा अचेतन, घृणास्पद, निंद्य, देह ।
भा भावना इसलिए निज आत्म की तू,
संसार पार करके बन रे सुखी तू ॥५१॥

संसार में सकलहैं निज कार्य व्यस्त,
ना आत्म को समझते भव दुःख त्रस्त ।
निर्भ्रांत कारण यही शिव को न पाते,
ऐसा न हो तुम सभी दुख क्यों उठाते ॥५२॥

वे मूर्ख हैं समय को पढ़ते हुए भी,
जो जानते समय मात्र न आत्म को भी ।
सारे अरे ? इसलिए बहिरात्म जीव,
पाते न मोक्ष, सहते दुख ही अतीव ॥५३॥

हो जाय विज्ञ यदि मुक्त मनेन्द्रियों से,
पृष्टव्य शेष न उन्हें कुछ भी किसी से ।
हो जाय बंद यदि राग प्रवाह सारा !
तो आत्म भाव प्रगटे स्वयमेव प्यारा ॥५४॥

मोहाभिभूत व्यवहार विपत्तिखान,
तू जीव अन्य जड पुद्गल अन्य जान ।
शुद्धात्म को गह अतः तन-मोह छोड़,
विज्ञान-लोचन जरा अब ? भव्य ? खोल ॥५५॥

जो जीव को विमल धाम न मानते हैं,
श्रद्धासमेत उसको नहि जानते हैं
होंगे न मुक्त, न मिले सुख, दुःख पाते,
ऐसा सदैव जिनदेव हमें बताते ॥५६॥

"घी दूध उत्तम दही" अरु दीप माला,
ज्योतिर्मयी स्फटिक आ रवि भी निराला ।
पाषाण रत्न रजतानल हेम जो हैं,
दृष्टांत वे समझ लो इस जीव के हैं ॥५७॥

आकाश सादृश तनादिक को सदैव,
जो भिन्न ही समझता अयि वीर देव !
तो शीघ्र ब्रह्म पद को वह यों गहेगा,
आलोक से जग प्रकाशित ही करेगा ॥५८॥

आकाश है अमित जो वर शुद्ध जैसा
है शास्त्र में कथित आतम ठीक वैसा ।
तू व्योम को जड़ अचेतन नित्य जान,
पै आत्म को विमल चेतन धाम मान ॥५९॥

जो जीव दृष्टि रख के निज नासिका पै,
शुद्धात्म को हृदय में लखता यहां पै ।
लज्जामयी जनन को फिर ना धरेगा,
तो देह धार स्तन पान नहीं करेगा ॥६०॥

शुद्धात्म को परम-सुन्दर-देह जानो,
दुर्गंध-धाम तन को जड़, हेय मानो,
रे ! मूर्तमान तन को अपना कहो न,
व्यामोह को तज, रहो, निज में हि मौन ॥६१॥

जो आत्म को स्वबल से जब जानता है
तो कौनसी सफलता मिलती न हा ! हे
होता अहो उदित केवल बोध भानु
स्थायी मिले सुख, उसे शिर में नमाऊं ॥६२॥

योगीन्द्र ! आशु तजके पर रूप भाव,
जो जानते सहज से अपने स्वभाव ।
अज्ञान नाशकर, केवल बोध पावे,
सिद्धत्व छोड़ फिर वे भवमें न आवे ॥६३॥

है धन्य विज्ञ वह पंडित धैर्यवान,
जो राग रोष तज के पर हेय मान ।
है जानता, निरखता निज आत्मको ही,
जो है विशुद्धतम लोक अलोक बोधी ॥६४॥

हे ! भव्य जीव ! सुन तू मुनि हो व गेही,
जो भी निवास करता निज आत्म में ही ।
तो शीघ्र सिद्धि सुखका वह लाभ लेता,
ऐसा कहे जिनप जो शिव मार्ग नेता ॥६५॥

रे ! तत्वको विरल मानव मानते हैं,
तो तत्व का श्रवण भी विरले करे हैं ।
है लाख में इक मनुष्य सुतत्व ध्यानी,
धारे उसे विनय से बिरले अमानी ॥६६॥

माता, पिता, सुत सुता, वनिता-कदंब,
मेरे नये, दुरित कारण ही कुटुम्ब ।
ऐसा विचार करता, यदि भव्य संत,
संसार नाश कर के बनता अनन्त ॥६७॥

योगीन्द्र ! इंद्र व नरेन्द्र फनीन्द्र सारे,
ना जीव को शरण वे सब हैं विचारें ।
ऐसे विचार, मुनि तो निजको जनाते,
आधार आत्महित का निजको बनाते ॥६८॥

देही सदा जनमता, मरता अकेला,
होता दुखी, जब सुखी तब भी अकेला ।
कोई न संग उसका जब स्वयं जाता,
निस्संग होकर तथा शिव सौख्य पाता ॥६९॥

हे ! मित्र बोल अब तू यदि नित्य एक,
तो अन्य भाव तज हो निज एकमेक ।
स्थायी अपूर्व सुख जो फलतः मिलेगा,
विज्ञान सूर्य तुझको द्रुत ही दिखेगा ॥७०॥

ज्यों आप पाप कहते बस पापको ही,
प्रायः परन्तु सब त्यों कहते बस विमोही ।
पे जो कुपाप कहते उस पुण्यको भी,
वैसे मनुष्य बिरले बुध भव्य कोई ॥७१॥

ज्यों बंध कारक तुझे वह लोह बेड़ी,
त्यों बंध कारक यहां यह हेम बेड़ी ।
जो भी शुभाशुभ-विभाव-विहीन होता,
होता विमुक्त भवसे, शिव सौख्य होता ॥७७॥

तेरा दिगम्बर यदा मन जो बनेगा,
तू भी उसी समय ग्रंथ विहीन होगा ।
तू अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
तो मोक्ष मार्ग मिलता, बन तू अनंगा ॥७७॥

सुस्पष्ट बीज दिखता वट वृक्ष में ज्यों,
होता प्रतीत वट भी उस बीज में त्यों ।
दीखे उसी तरह जो तन में जिनेश,
त्रैलोक्य पूज्य, जिनकी महिमा विशेष ॥७४॥

मैं हूँ वही जिनप जो वर बोध कोष,
यों भावना सतत भा तज क्रोध रोष ।
ना अन्य मन्त्र इसको तज, मोक्ष पंथ
संसार का विलय हो जिससे तुरन्त ॥७५॥

दो, तीन, चार, छह पांच तथैव सात,
ये सर्व लक्षण विसो-गुणसार साथ ।
होते अवश्य जिनमें जब स्पष्ट रूप,
तू जान नित्य उनको परमात्म रूप ॥७६॥

जो राग रोष तज के धर नग्न भेष,
सद् ज्ञान दर्शन गुणान्वित हो जिनेश !
अध्यात्म लीन रहते, शिव सौख्य पाते,
ऐसे सदैव जिनदेव हमें बताते ॥७७॥

है तीन से विकल जो मुनि मौन युक्त
अर्थात् विमोह अरु राग प्रदोष रिक्त ।
सद् ज्ञान आचरण दर्शन पा स्वलीन,
पाता प्रमोक्ष इस भांति कहे प्रवीन ॥७८॥

संज्ञाविहीन बन, चार कषाय मार,
जो धारता वर अनंत चतुष्क भार ।
आत्मा उसे समझ तू भवभीत भिक्षु,
होता अतः परम पावन हे ! मुमुक्षु ! ॥७९॥

जो पंच इन्द्रियजयी तज पंच पाप
औ सर्व प्राण युत है जिनमें ताप ।
होते क्षमादि दशलक्षण धर्म युक्त,
आत्मा उन्हें समझ निश्चय वीर भक्त ॥८०॥

आत्मा हि दर्शन मयी अरु ज्ञान धाम,
चारित्र का सदन है नयनाभिराम ।
औ त्याग रूप व्रत-संयम शील शील,
ऐसा सदा समझ तू बन तू सुशील ॥८१॥

जो आत्म को व पर को नित जानता है,
निर्भ्रांत शीघ्र परको वह त्यागता है ।
संन्यास धारक वही गुरु ओ महान,
ऐसे कहे जिनप केवल ज्ञान वान ॥८२॥

रत्नत्रयान्वित वशी महिमें पवित्र,
होता वही सुखद तीर्थ सदैव अत्र,
तो मोक्ष का सुगम कारण भी वही है ।
ना अन्य मन्त्र शिव हेतु न तंत्र भी है ॥८३॥

अर्थावलोकन सदा जिससे अहा ! हो
योगी उसे कहत दर्शन वे यहां भों !
विज्ञान है सहज आतम जो पवित्र,
तो बार बार निज चिंतन ही चरित्र ॥८४॥

आत्मा जहां गुण वहीं सब विद्यमान,
पद केवली सब कहें जिनमें न मान ।
योगी अतः परम उत्तम योग धार,
है आत्म को निरखते जग को विसार ॥८५॥

व्यापार बन्द कर इन्द्रिय ग्राम का भी,
निस्संग हो तज परिग्रह नाम का भी ।
तू काय से वचन से मन शुद्धि साथ,
ध्या आत्म, शीघ्र बन जा शिव नारिनाथ ॥८६॥

है बद्ध को समझता यदि तू प्रमुक्त,
होता सुनिश्चय अतः द्रुत बंध युक्त ।
तू स्नान स्वीय सर में यदि रे ! करेगा
तो आशु मुक्ति ललना-पति तू बनेगा ॥८७॥

सम्यक्त्वभूषित सुधी न कुयोनि पाता,
या तो यदा कुगति में यदि हाय ! जाता
सम्यक्त्वका पर न दोष वहां दिखाता,
प्राचीन कर्म रिपु को वह तो नशाता ॥८८॥

जो भव्य सर्व व्यवहार विमोचता है,
ओ आत्म में रमण भी करता रहा है
सम्यक्त्वमंडित वही, मुनि मौन धारी
संसार त्याग, वरता, वह मोक्षनारी ॥८९॥

सम्यक्त्व में प्रथम जो बुध भी वही है,
औ तीन लोक भर में वह मुख्य भी है ।
पाता वही परम केवल ज्ञान को है,
आदेय, शाश्वत, अपूर्व प्रमाण जो है ॥९०॥

आत्मा सुमेरु सम हो जब जो ललाम,
बार्धक्य, मृत्यु परिशून्य, गुणक धाम ।
झाई ! तदैव वह कर्म न बांधता है,
प्राचीन कर्मरिपुको पर मारता हैं ॥९१॥

हे ! मित्र ! जो हरित पूरित पद्म-पत्र
होता न लिप्त जल से जिस भांति अत्र ।
आत्मीय भाव रत है यदि जो सदीव,
ना लिप्त कर्म रज से उस भांति जीव ॥९२॥

जो विज्ञ होकर यहां शिव सौख्य लीन,
है बार बार लखता निजको प्रवीन ।
स्वामी वही सहज से वसु कर्म नाश,
पाता अपूर्व अविनश्वर जो प्रकाश ॥९३॥

आत्मा पवित्रतम जो पुरुषानुरूप,
आलोक पूर्ण वह है, गुण मुख्य स्तूप ॥
जाज्वल्यमान अपनी वर ज्योतिगम्य,
मैं क्या कहूँ वचन से, वह दिव्य रम्य ॥९४॥

शुद्धात्म को, अशुचिधाम शरीर से जो,
है भिन्न ही समझता, निज बोध से यों ।
अत्यन्त लीन उस शाश्वत सौख्य में हो,
है जानता वह समस्त जिनागमों को ॥९५॥

जो जानता न निज निर्मल आत्म को है,
औ त्यागता दुखमयी न विभाव को है ।
होगा विशारद जिनागम में भले ही,
पाता न मोक्ष वह तो भव में रुले ही ॥९६॥

संकल्प-जल्प व विकल्प विकार हीन,
जो हैं यहाँ परम श्रेष्ठ समाधि लीन ।
आनन्द काऽनुभव वे करते नितांत,
वे ही अत: परम सिद्ध सदा प्रशांत ॥९७॥

पिंडस्थध्यान फिर दिव्य पदस्थध्यान,
रूपस्थध्यान भजनीय त्रितीय जान ।
तू रूपरिक्त उस अंतिम ध्यान को भी,
निस्संग हो समझ तो भव मुक्ति होगी ॥९८॥

हे मित्र ! बोधगुण मंडित जीव सारे,
जो लोग ईदृश सदा सम भाव धारे ।
सामायिक तुम सभी समझो उसी को,
ऐसा जिनेश कहते महिमें सभी को ॥९९॥

जो रोष तोष मय सर्व विकार भाव,
है, शीघ्र त्याग, धरता वर साम्य भाव ।
सामायिकी नियम से वह ही कहाता,
ऐसा निरंतर यहां ऋषि वृंद गाता ॥१००॥

हिंसादि पंच विध निंद्य कुपाप छोड़,
जो आत्म को अचल मेरु रखे अडोल ।
होता चरित्र उसका वह जो द्वितीय,
देता प्रमोक्ष, सुख जो अति श्लाघनीय ॥१०१॥

मिथ्यात्व राग विमदादि कल्याण से जो ?
सम्यक्त्व की विमलता बढ़ती उसे भी ।
जानो सदैव परिहार विशुद्धि रूप,
होता प्रमोक्ष जिससे सुखतो अनूप ॥१०२॥

जो सूक्ष्म लोभ हटने पर सूक्ष्मभाव,
है आत्म का नियम से करता बचाव ।
होता वही परम सूक्ष्म चरित्र शस्य,
है भाग नित्य सुखका शिवका अवश्य ॥१०३॥

आत्मा सुशिव शिव, निश्चय से महात्मा,
होता वही विमल जो अरहंत नामा ।
आचार्य वर्य, उवझाय सुपूजनीय,
स्वामी ! वही नियम से मुनि वंदनीय ॥१०४॥

आत्मा हि ईश्वर वही शिव, विष्णु बुद्ध,
ब्रह्मा, महेश, परमातम, सिद्ध, शुद्ध ।
होता अनंत, वृष, शंकर भी जिनेश,
पूजूं नमू स्तव करूं उसका हमेश ॥१०५॥

पूर्वोक्त सार्थक सुलक्षण युक्त जो हैं,
संक्लेशहीन सुखरूप जिनेश ओ है ।
है आत्म में न उनमें कुछ भी विभेद,
निर्भ्रांत ही सतत तू इस भांति वेद ॥१०६॥

जो शुद्ध, बुद्ध अब लों जिन हो चुके हैं,
ये सिद्ध जो विमल संप्रति हो रहे हैं ।
होंगे भविष्य भर में निजदर्श से ही,
तू जान ईदृश अत: तज मोह मोही ! ॥१०७॥

एकीभाव

मूल : एकीभाव स्तोत्र (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य वादिराज

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

पद्यावली रचित थी निज बोधनार्थ,
योगींद्र देव यति से वर चित्त साथ ।
मैंने वसंत-तिलका वर वृत-द्वारा,
भाषामयी अब उसे कर दी सुचारा ॥१०८॥

है योगसार श्रुतसार व विश्वसार,
जो भी इसे बुध पढ़े, सुख तो अपार ।
मैं भी इसे विनय से पढ़, आत्म ध्याऊं,
'विद्यादिसागर' जहां डुबकी लगाऊं ॥१०९॥

एकीभाव

(मंदक्रांताछंद)

मेरे द्वारा अमित भवमें प्राप्त जो कर्म सारे,
तेरी प्यारी जबाकि स्तुति से शीघ्र जाते निवारे ।
मेरे को क्या फिर वह न ही वेदना से बचाती ?
स्वामी ! सद्यः लघु दुरित को क्या नहीं रे भगाती ? ॥१॥

वे ही हर्त्ता दुख तिमिर के दिव्य-भानू-जिनेश,
ऐसे सारे गणधर कहे आपको ज्यों दिनेश ।
पै है मेरे मुदित मन में वास तेरा हमेशा,
तो कैसी ओ ! फिर हृदय में रे ! रहे पाप दोषा ॥२॥

जो कोई भी विमल मनसे मन्त्र से स्तोत्र से या,
भव्यात्मा ज्यों भजन करता आपका मोदसे या ।
श्रद्धानी के अह ? है उसके देह ,
सारी नाना वर-विषमयी व्याधियां दौड़ती जो ॥३॥

आनेसे जो अमर पुर से पूर्व ही मेदिनी भी,
स्वामी ! तेरे सुकृत बलसे हेमता को वरी थी ।
प मेरे तो मन-भवन में वास जो आपका है,
काली काया कनक मय हो देव ! आश्चर्य क्या है ? ॥४॥

तर में ही सब विषय संबंधिनी शक्ति भी है,
स्वामी ! तो ह प्रतिहत नहीं, लोक बन्धू तभी हैं ।
म काली ह्ं चिर समय में आप मेरे बसे हैं,
काश काया जनित मल दुर्गन्ध को हा ! सहे हैं ॥५॥

जन्मा ग म भ्रमण करता भाग्य से अत्र आया,
कर्मा न ना अब विपिन म हा ! मुझ से सताया ।
म ना तर नग शरण म देव ! गाता लगाता,
काश ह आ ! फिर अब मुझ दुःख दावा जलाता ? ॥६॥

होता तेर चरण युग सानिध्य से पद्म देख !
लक्ष्मी-धामा, सुरभित तथा हेम जैसा सुरेख ।
प मेरा जो मन तव करे स्पर्श सर्वांगको का,
तो क्या पाऊं न फिर अब मैं साम्य मोक्षालिकोंका ? ॥७॥

प्याला पीया जब अमृत का आपके भक्ति से है,
जो पाया भी मनुज जब आशीश को आपसे है ।
प्रायः स्वामी ! अतुल सुख में लीन भी है यहां पे,
काश पीड़ा दुरित मय कांटे उसे दे वृथा पै ॥८॥

श्यामस्पर्शी मणिमय तथा मानका स्तम्भ भाता,
आंखोंका ज्यों विषय बनता, मानको त्यों नशाता ।
आया ऐसा सुबल उसमें आपके संग से है,
स्वामी ! देखो वह इसलिए ही खड़ा ठाट से है ॥९॥

काया को छू,
सद्यः ही है जन-निचयकी•रोग धूली मिटाती ।
ध्यानी के तो उर जलज पे आप बैठे यहा हैं,
पाता है तो वह स्वधन आश्चर्य भी क्या तदा है ॥१०॥

मेरे सारे भव भव दुखों को विभो जानते हैं,
होती क्लांती सतत जिनकी याद से हा ! मुझे हैं ।
विश्वज्ञाता सदय तुमको भक्ति से आज पाया,
हूँ मैं तेरा मम हृदय में ठीक विश्वास लाया ॥११॥

स्वामी-जीवं-धरवदन से आपके मंत्र को जो,
कुत्ता पाता जबकि सुनके अंत में सौख्यको यों ।
मालाको ले सतत जपता आपके मंत्र को जो,
आशंका क्या फिर अमर हो इंद्रता को वरे तो ? ॥१२॥

कोई ज्ञानी वर चरित में लीन भी जो सदा है,
तेरी श्रद्धा यदि न उसमें तो सभी हा वृथा है ।
भारी है रे ! शिव-सदन के द्वार पे मोह ताला,
कैसे खोले, उस बिन उसे, हो सके जो उजाला ॥१३॥

तेरा होता यह यदि न वाक्दीप तत्वावभासी,
जो है स्वामी ! वरसुखद औ मोक्ष मार्ग प्रकाशी ।
छाई फैली सिवपथ जहां मोहरूपी निशा है ।
पाते कैसे फिर तब उसे हाय ? मिथ्या दिशा है ॥१४॥

आत्मा की जो द्युति अमित है मोद दात्री तथा है,
मोही को तो वह इह न ही प्राप्त हा ! यो व्यथा है ।
पै सारे ही लघु समय में आपके भक्त लोग,
वे पाते हैं तव स्तवन से जो उसे धार योग ॥१५॥

भक्ती गंगा नय-हिमगिरी से समुत्पन्न जो है,
पापों को छू तव अरुशिवां बोधि में जा मिली है ।
मग्न स्वामी ! सुमन उसमें स्नान भी तो किया है,
तो काया में विकृति फिर भी क्यों रही देव ! हां ! है ॥१६॥

ध्याऊं भाऊं जब अचल हो, आपको ध्येय मान,
ऐसी मेरी यह मति तदा आप औ में समान ।
मिथ्याही पे मम मति विभो ! कर्म का पाक रे है,
तो भी दोषी तव स्तवन से मोक्ष लक्ष्मी वरे है ॥१७॥

वाणी रूपी जलधि जग में व्याप्त तेरा जहां पे,
हटाते ।
ज्ञानी ध्यानी मथकर उसे चित्तमंदार से वे,
सारे ही हैं द्रुत परम पीयूष पी तृप्त होते ॥१८॥

शृंगारों को वह पहनता जन्म से जो कुरूप,
बैरीयों से परम डरता जो धरे शस्त्र भूप ।
धाता, त्राता धरणपति तथा मोक्षकांता-सुकांत,
ऐसे गावे तवयश यहां तो प्रशंसा नितांत ॥२०॥

तेरी वाणी तव चरण तू दूसरों सा न ईश,
तो कैसा हों तव स्तवन में जो हमारा प्रवेश ।
तो भी स्वामी ! यह स्तुति सदा आपके सेवकों को
देगी प्यारी अभिलषित को और देगी सुखों को ॥२१॥

रागी द्वेषी जिनवर नहीं, ना किसी ना किसी की अपेक्षा
मेरे स्वामी ? वर सुखद है मार्ग तेरा उपेक्षा ।
तो भी तेरी वह निकटता कर्महारी यहां है,
क्यों भारी विषद महिमा दूसरों में कहां है ? ॥२२॥

कोई तेरा स्तवन करता भाव से है मनुष्य
होता ना हीं शिवपथ उसे वाम स्वामी ? अवश्य ।
जाते जाते शिव सदन की ओर जो आत्म ध्याता,
मोक्षार्थी तो तव-समय में यो न संदेह लाता ॥२३॥

जो कोई भी मनुज मन में आपको धार ध्याता,
भव्यात्मायों अविरल प्रभो ? आप में लौ लगाता
जल्दी से है शिव सदन का श्रेष्ठ जो मार्ग पाता,
श्रेयोमार्गी वह तुम सुनो ! पंच कल्याण पाता ॥२४॥

ज्ञानी योगी स्तुति कर सके ना यदा वे यहाँ हैं,
तो कैसे मैं तव स्तुति करुं पै तदा रे मुधा है ।
तो भी तेरे स्तवन मिष से पूर्ण सम्मान ही है,
आत्मार्थी को विमल सुख का, स्वर्ग का वृक्ष ही है ॥२५॥

हैं वादिराज वर-लक्षण पारगामी,
है न्याय-शास्त्र सब में बुध अग्रगामी ।
हैं विश्व में नव रसान्वित काव्य धाता,
हैं आपसा न जग भव्य सहाय दाता ॥२६॥

त्रैलोक्य पूज्य यतिराज सुवादिराज,
आदर्श सादृश सदा वृष-शीश-ताज ।
बंदू तुम्हें सहज ही सुखतो मिलेगा,
'विद्यादिसागर' बनूं दुख तो मिटेगा ॥२७॥